



THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

सन्मति

म
ह
ा
वी
र

कुंशुभुगि

सन्मते

म
हा
वी
र

सुरेश. मुनि

श्रीसन्मते शान पीठ, गावर.

पूर्व रंग

एक चिरन्तन सत्य

इतिहास की कसौटी पर परखा हुआ यह एक चिरन्तन सत्य है कि ससार में जब पापाचार, दुराचार, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अधर्म धर्म का परिधान पहिनकर जन-गण-मन को भुलावे में डाल देता है, धार्मिक मंच पर भी असत्य, अन्याय, शोषण, उत्पीडन एवं स्वार्थपरता का बोल बाला हो जाता है, जीवन के उच्चादर्शों को भूलकर मानव पार्थिव एषणाओं की भूल-भुलैया में फँस जाता है. जन-जीवन में दैवी भावनाओं के स्थान पर आसुरी भावनाएँ अपना पजा जमा लेती हैं, मानवता के नाम पर दानवता का नग्न ताण्डव होने लगता है, तब कोई महान् आत्मा, सोई हुई मानवता के भाग्य जगाने के लिए, भूले-भटके

गृहस्थ-जीवन में प्रवेश

धन्मति महावीर बाल्यकाल से ही चिन्तनशील और गंभीर प्रकृति की साकार मूर्ति थे। वे अपने चारों ओर की स्थिति-परिस्थिति एवं वातावरण पर बड़ी गम्भीरता से चिन्तन-मनन करते और घण्टों ही उस चिन्तनिका में डूबते-उतरते रहते थे। वे विचारते कि—“धर्म के नाम पर कितना अन्धकार फैलाया जा रहा है! आज का धर्माधिकारी ब्राह्मण तथा श्रमण केवल पोधियों के ज्ञान में ही बन्द हो गया है! ज्ञान जब सत्कर्म से शून्य हो जाता है, तो वह प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार ही अधिक फैलने लगता है। कर्म का अर्थ सदाचार तथा नैतिक जीवन मुला दिया गया है और उसके नाम पर केवल अर्थशून्य, शुष्क एवं खड़ क्रियाकाण्ड जनता के मत्थे मढ़ा जा रहा है। जनता भी

जीवन की सच्ची दिशा से भटक कर मिथ्या विश्वासों और रुढ़ियों के बन्धनों में बुरी तरह जकड़ी हुई है। उच्च वर्ग अपनी जातीय श्रेष्ठता के अभिमान में शूद्रों के साथ अन्याय तथा अनोक्ति करने पर तुला हुआ है। “शोचनाद् रोदनाद् शूद्र” — शूद्र के भाग्य में शोक करना, रोना ही लिखा है — शूद्र की यह कैसी दुर्भाग्यपूर्ण व्याख्या ? मानवता के साथ यह कैसा नग्न उपहास !

.... . . . क्या यह जीवन महलों और सोने के सिंहासनों में बन्द होने के लिए है ? नहीं, कदापि नहीं। यह खेल तो अनन्त-अनन्त बार खेला है। पर, इससे जीवन का क्या हित साधन हुआ है ? जीवन के महान् पथिक का उद्देश्य श्रान्ति-भवन में टिक रहना नहीं है। मुझे माया के नागपाशों को तोड़कर अन्धकार से प्रकाश की ओर चलना होगा और जीवन के शुद्ध घेरो में बन्द तथा अन्धेरी गलियों में भटकते जगन को प्रकाश-पथ दिखाना ही होगा . . . ।”

राजा सिद्धार्थ और माता वृशला पुत्र को इस चिन्तार्थाल मुद्रा में देखते, तो विचार में पड़ जाते, सोचने पर मजबूर हो जाते कि कहीं राजकुमार किसी दूमरी दिशा में न बह जाय ! फलतः माता-पिता ने जितनी जल्दी हो सके, उन्हें परिणय-दन्धन में बाँध देना ही उचित समझा। माता-पिता के ममता-भरे आग्रह ने महावीर को सौन-सन्मति पर विजय पा ली और समन्वीर नामक एक महासामन्त की सुपुत्री यशोदा के साथ उनका विवाह मंगलार सम्पन्न हो गया। प्रियदर्शना नामक उनके एक पुत्र भी हुई।

भोग में मन न रस सका

महावीर राजकुमार थे। ससार का सुख-वैभव और भोग-विलास की सामग्री उनके चारों ओर बिखरी पड़ी थी। माता-पिता का वात्सल्य स्नेह-वर्षण कर रहा था। बड़े माई नन्दीवर्धन का अप्रतिम भ्रातृत्व आदर्श का प्रतीक बना हुआ था। दास-दासी सेवा में हाथ जोड़े तत्पर रहते थे। पत्नी के रूप में यशोदा चरण-चेरी बनी हुई थी। दुःख, अभाव, कष्ट क्या होता है—स्वप्न में भी कहीं पता न था। एक ओर था समृद्ध परिवार का विलासमय जीवन और दूसरी ओर थी महावीर की वैराग्यपूर्ण वृत्ति-प्रवृत्ति। विलासमय वातावरण उनकी चिन्ताशील प्रवृत्ति को न बदल सका। भोग की भरी-भूरी दुनिया के बीच रहकर भी महावीर की आत्मा एक तरह की अच्युति

का अनुभव कर रही थी। जब वे बाह्य सुख-साधनों पर दृष्टिपात करते, तो उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती—“सच्चे सुख का मार्ग तो कोई और ही है। यदि यह वैभव-विलास सुखदायी होता, तो आज ससार का जीवन दुःख की जिन्दा तस्वीर क्यों होता ? भारत का सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक पतन उन्हें बेचैन किये हुए था। जब वे अपने चारों ओर की दुनिया पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालते, तो देखते कि ससार में सब ओर एक गहरा अन्धकार परिव्याप्त है और मानव-समुदाय अपनी जुद्ध वासनाओं की तृप्ति के फेर में पड़कर दूसरे प्राणियों के प्राणों के साथ खिलवाड़ कर रहा है। धर्म के नाम पर खुले आम हिंसा-राजसी का नगा नाच हो रहा है ; जिससे सर्वत्र हाहाकार का आर्तनाद सुनाई पड़ रहा है। यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वार्थ का खेल खेला जा रहा है।

यह सब देखकर महावीर की जवानी विद्रोह कर उठी। उनके विचारों में उथल-पुथल मच गई और आखिर, उन्होंने दृढ़ निश्चय कर ही लिया कि—“कुछ भी हो, मुझे इस समस्त संसार से ऊपर उठना है और जगती को भी इस दुःख से उबारना है। ससार में सुख-शान्ति और साम्य-भाव की गंगा बहानी है। लेकिन, उसके लिए सर्वप्रथम मुझे स्वयं आत्म-बल प्राप्त करना है।”

आध्यात्मिक सुख की साधना में तन्मय हो रहे थे। लौकिक विभूति के नाम पर उनके पास केवल एक देव-दुष्य वस्त्र है, वह भी अव्यवस्थित रूप से शरीर पर पडा हुआ है, और कुछ नहीं।

गरीबो बडी भयंकर बला है।। इसके समान संसार मे और कौन दु ख होगा ? विपत्ति का मारा हुआ, गरीबी का सताया हुआ, दरिद्रता से पिसा हुआ एक निर्धन ब्राह्मण उनके पास आता है, और अन्तस्तल मे अवरूद्ध अपनी दु ख-गाथा कहने लगता है।

“भगवन् ! आज आपके दर्शन पाकर धन्य-धन्य हो गया हूँ। कब से आपकी तलाश कर रहा हूँ ? वैशाली गया, आस-पास के गाँवो और जङ्गलों को ध्यान मारा; परन्तु कहीं पता ही न लगा। करुणानिधे ! मैं तो निराश ही हो चुका था। परन्तु, एक यात्री के मुख से ज्यो ही आपका पता चला, आशा को लुप्त होती हुई ज्योति पुनः चमक उठी।

महावीर ध्यान मे थे।

“भगवन् ! आपके दान की क्या सहिमा करूँ ? आपने तो दान का मेघ ही बरसा दिया। किन्तु, मैं हतभाभ्य कोरा ही रहा। उन दिनों मैं दूर देशों में मारा-मारा फिर रहा था। घर आया, तो पता चला—कल्पवृक्ष सब-कुछ लुटाकर वनवासी भिडु हो गया है।”

महावीर मौन थे।

“भगवन् ! क्या निवेदन करूँ ? आप ज्ञानी हैं, मेरी स्थिति आपसे छिपी नहीं है। जन्मतः दरिद्र हूँ, भान्य का मारा हुआ हूँ। कभी मुख से दो रोटी भी पेट को नसीब नहीं हुई। और अब तो ऐसी दशा है कि घर में अन्न का दाना तक नहीं। परिवार भूखों मर रहा है। अब यह दूबती नैया बचा लेना, आप ही के हाथ में है।”

महावीर ध्यान में थे।

“दीनबन्धो ! मौन कैसे है ? ऐसे कैसे काम चलेगा ? क्या अनन्त क्षीरसागर के तट से भी प्यासा ही लौटना पड़ेगा ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मुझ दीन पर तो कृपा करनी ही पड़ेगी।”

महावीर ध्यान में थे।

ब्राह्मण के धीरज का घागा टूट चला। उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल धार उमड़ चली। वह गिड़गिड़ाकर महावीर के चरणों से चिपट गया।

महावीर आत्म-ध्यान में लीन थे। वे अखण्ड चिन्तनधारा में बहे जा रहे थे। परन्तु, अन्तर्हृदय से करुणा का अदृश्य स्रोत उमड़ पड़ा। वे ध्यान खोलकर बोल उठे:—

“भद्र ! यह क्या करते हो ? अधीर मत बनो। शान्ति रखो। जीवन के ये ममले यों ही आते-जाते रहते हैं। इनके कारण कातर होना उचित नहीं।”

“भगवन् ! क्या करूँ ? जीवन भार मालूम हो रहा है। घर

का कोना-कोना भूख से हाहाकार कर रहा है। ऐसी स्थिति में शान्ति और धीरज कहाँ ?”

“भद्र ! यह ठीक है। परन्तु, रोने से भी क्या होता है ? साहस करो। जीवन के संघर्षों से वीरता के साथ युद्ध करो। मनुष्य को अपनी समस्याएँ आप ही हल करनी होती हैं।”

“भगवन् ! मैं तो सब ओर से हताश, निराश हो गया हूँ। अब तो केवल आपका सहारा ही मेरा उद्धार कर सकता है। मेरे अपने करने से कुछ नहीं होगा।”

“भव्य ! तुम्हारी दशा पर मुझे दया आती है। परन्तु क्या, अब मैं क्या कर सकता हूँ ? दीक्षा लेते समय यदि तुम आये होते, तो मैं तुम्हारी उचित सहायता कर सकता था। अब मैं अकिञ्चन भिन्न हूँ, देने को अब मेरे पास है ही क्या ?”

“भगवन् ! सुअवसर का लाभ किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। मुझ अभाग्य को तब पता ही न चला, आता कहाँ से ? आपको करुणा-दृष्टि हो, तो अब भी क्या नहीं हो सकता ? चाहे तो रत्नों की वर्षा कर सकते हैं, सोने का मेघ बरसा सकते हैं।”

“भद्र ! मर्यादा से बाहर की बात न करो। मैं अपनी साधना पत्थर के चमकते टुकड़ों की वर्षा करने के लिये, सोने की मेघ-वृष्टि करने के लिये नहीं कर रहा हूँ। मेरी साधना तो विशुद्ध सत्य की शोध के लिये है। मैं कोई जादूगर नहीं हूँ, साधक हूँ।”

“भगवन् ! दारिद्र्य ने बुद्धि का त्रिवेक नष्ट कर दिया है।

आपकी साधना जादूगर बनने के लिये नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु, क्या मैं कल्प-वृक्ष को पाकर भी खाली हाथ लौटूँ ? आपके हाथ से कुछ भी चीज मुझे मिलनी ही चाहिये। मुझे आशा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि आपके हाथ की मिली हुई धूल भी मेरे भाग्य का वारा-न्यारा कर देगी, मेरे भाग्य की गति बदल देगी।”

ब्राह्मण फिर रोने लगा। अब की बार उसकी आंखों के आँसू करुणामूर्ति से न देखे गये। मानवता का सबसे बड़ा श्रद्धालु पुजारी, भला दुःखी को देखकर कैसे चुप रह सकता था ? मानवता की साकार मूर्ति महावीर ने करुणाद्रि होकर देव-दुष्य उतारा, और उसका आधा भाग ब्राह्मण को दे दिया।

महावीर का फिर वही आत्म-मन्थन चल पड़ा।

प्राणशत्रु पर भी अमृत-वर्षा

साधना-पथ पर आगे बढ़ते हुये महावीर को तन-मन में सिहरन पैदा कर देने वाली कठिनाइयों की अनेक पर्वतमालाओं को पार करना पड़ा। घोर-से-घोर उपसर्ग की जहरोली घूँट को भी समभाव के मधुर सस्पर्श से अमृत बना देना, उनकी जीवन-कला का जीवित परिचय था। विरोधी-से-विरोधी पर भी उनके तन-मन-नयन से क्षमा एवं वात्सल्य का अमृत-वर्षण होता रहता था।

एक वार महावीर नदी के तट पर ध्यानस्थ खड़े थे। चारों ओर जङ्गल की हरियाली लहलहा रही थी। शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर बह रहा था। महावीर नेत्र बन्द कर आत्म-लीन हो अपने-आप में अपने द्वारा अपने-आप को खोज रहे थे।

जीवन के उन नितान्त एकान्त क्षणों में वे एक सहज आत्म-रमण का अपूर्व आनन्द लूट रहे थे।

महना उनके समक्ष कुछ चिन्तित-सा एक ग्वाला आकर खड़ा हो गया। और बोला—“महाराज! इस जङ्गल में चरते हुए आपने मेरे बेल तो नहीं देखे?”

महावीर ध्यान-स्थिति में आत्म-विभोर हो रहे थे। अन्तर्जगत् में मौन मन्थन चल रहा था। अतः उसकी बात का उत्तर भी कैसे देते? उनको मौन-मुद्रा में देखकर ग्वाला बेलों की तलाश में आगे बढ़ गया। कुछ ही देर बाद वापिस लौटकर देखता क्या है कि “बल सन्त के आस-पास ही चर रहे हैं और वे उसी तरह नेत्र बन्द किये खड़े हैं।”

यह देखकर ग्वाला अपने-आपे में न रह सका। उसका रोम-रोम जुध्व हो उठा। वह चीखकर बोला—“बस, बस, मैं समझ गया हूँ कि तू महात्मा नहीं, दुरात्मा है। चुराने की नीयत में बेल तूने ही कहीं डधर-उधर छिपाकर रख छोड़े थे। ले देख, तुम्हें तेरी करतो का अभी कैसा मजा चखाता हूँ?”

इतना कह वह महावीर पर एक दम बरस पड़ा। लाठी, डेले और पत्थरों की अन्धाधुन्ध वर्षा होने लगी। परन्तु, महावीर अपनी शान्त-दान्त स्थिति में ध्यान-मग्न रहे। न कुछ हिले-डुले और न ही कुछ बोले-चाले। उनकी इस अपार सहिष्णुता और शान्त वृत्ति पर ग्वाला आश्चर्य-चकित था। वह उनके मुख-मण्डल पर अठखेलियाँ करते हुये तपस्तेज से हत-प्रभ-सा हो

४२ . सन्मति-महावीर

गया । गिड़गिड़ाकर महावीर के चरणों से विपट गया, और अपना दीन भाषा से बोला—“भगवन् ! मुझ अपराधी का अपराध क्षमा कीजिये । मैं नास्तमस्क हूँ, अज्ञानी हूँ ।”

महावीर के अन्तर्हृदय के कण-कण में अकृत्रिम प्रेम का शीतल भरना बह रहा था । अपराधी और प्राण-घातक पर भी इतना वातसल्य-भाव ! महावीर का रोम-रोम सहस्रमुख होकर धोल रहा था—‘वत्स ! तुम्हें सन्मति प्राप्त हो ! तुम्हारा कल्याण हो ॥’

आत्मावलम्बन की ओर

महावीर की साधना अपने चल-चूते और आत्मावलम्बन के संबल पर चलती थी। अपने साधना-काल में उन पर एक-से-एक भयंकर आपत्तियों का कुचक्र चलता रहा। एक के बाद दूसरा तूफानों का मंझावात उन्हें मरुमोरता रहा। उपसर्गों का बवडर अपनी भयावनी तस्वीर लेकर साधना-पथ में रोड़े अटकाता रहा। पर मजाल, महावीर ने किसी भी क्षण सहायता के लिए दायें-बायें आंख उठाकर भी देखा हो ! स्वयं सहायता मांगना तो दूर, भक्ति-भाव से सेवा में प्रस्तुत होने वालों की भी दात तक न सुनी। वस्तुतः महावीर का यह आत्मावलम्बन आदर्श और यथार्थ की सर्वोच्चता का एक सजीव रूप था। ।

६४ : सन्मति-महावीर

निछावर कर दिया । साथ ही समूची शिष्य-मंडली ने भी गौतम के चरण-चिन्हों का अनुसरण किया ।

भगवान् महावीर के अहिंसा-धर्म की यह सर्वप्रथम और शानदार विजय थी, जिसे विद्वत्समाज और जनसाधारण में एक तहलका मचा दिया । हिंसा के सिंहासन की जड़े हिल उठी और सब ओर “अहिंसा परमो धर्म”, का महास्वर गूँज उठा !

जन-सेवा बनाम जिन-सेवा

भगवान् महावीर अपने समय के क्रान्तदर्शी जन-नायक थे। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की महाज्योति प्राप्त करने के बाद वे पैदल घूम-घूम कर निरन्तर तीस वर्ष तक जन-सेवा करते रहे। जनता-जनार्दन की निष्काम सेवा करना ही तो उनका कर्तव्य शेष रह गया था। उनकी दृष्टि में जन-सेवा का कितना महत्वपूर्ण स्थान था—इन्द्रभूति गौतम और महावीर के निम्न ऐतिहासिक संवाद पर से इसका सङ्ग ही अनुमान किया जा सकता है।

चिन्तन के क्षणों में बैठे हुए एक बार इन्द्रभूति गौतम के अन्तर्मान में सहसा एक विचार घूम गया। उनके मन को एक मशरूम ने घेर लिया। वे आसन से उठे और प्रश्न का नन्हा-

निर्वाण

भगवान् महावीर के विशाल जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो जाता है कि वह ज्योति-पुञ्ज एड़ी से चौटी तक क्रान्ति ही क्रान्ति था। उनकी क्रान्ति के पीछे मानव-जीवन के महानिर्माण की एक भव्य सृष्टि छिपी हुई थी। और उसी के लिए केवल ज्ञान का महाप्रकाश पाने के बाद तथा पूर्णतः कृतकृत्य हो जाने के बाद भी वे दूर-दूर तक पैदल घूम कर अपने अन्तर्लोक की तेजोमयी प्रकाश-किरणों से मानव-जीवन के अन्धकार-विलुप्त रहस्यो एव तथ्यों का उद्घाटन करते रहे।

पावा नरेश हस्तिपाल के अत्यन्त भाव-भरे आग्रह पर भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम वर्षावास राजा की रजुगसभा [पटवारी के दफ्तर] में किया हुआ था। चातुर्मास के तीन मास व्यतीत हो

चुके थे और चौथा माम भी आधा बीतने पर आ गया था। कार्तिक-अमावस्या को प्रभात वेला थी। स्वाति नक्षत्र का योग चल रहा था। अपना अन्तिम समय जानकर भी वे जन-कल्याण के लिए दो दिन तक निरन्तर अपनी मृत्युञ्जय वाणी की अजस्र धारा बहाते रहे। अपने आत्म-स्थित ज्ञान के उजियारे से जन-मन में जीवन-ज्योति जगाते रहे, हजार-हजार हाथों से आत्म-ज्ञान की सम्पत्ति लुटाते रहे। महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्लि और नौ लिच्छवि—जो अट्टारह गणराजा कहलाते थे, पौषध-व्रत किये हुए, उस ज्योतिर्मय युग-पुरुष से ज्ञान का अक्षय प्रकाश प्राप्त कर रहे थे। स्वयं भगवान् महावीर भी दो दिन से उपवास में ही थे। हजारों दर्शनार्थी उस महापुरुष के दर्शनो की लालसा लिए दौड़ रहे थे। कुछ नगर से बाहर सड़को पर तेज रफ्तार से चले आ रहे थे, कुछ नगर की गलियों में भाग रहे थे, कुछ उनका चरण-स्पर्श करने के लिए अपने हाथों को आगे बढ़ा रहे थे, इतने ही में जीवन की चरम सास में भी ज्ञान के प्रकाश की किरणों विकीर्ण करती हुई वह महाज्योति लोचनोचनो से हमेशा के लिए ओम्बल हो गई। उनकी इस महायात्रा को जैन-भाषा में निर्वाण या परिनिर्वाण कहते हैं। निर्वाण का अर्थ है पूर्णतः आत्म-शान्ति। हमेशा के लिए मृत्यु पर विजय। मौत को भी मौत !! सदा-सर्वदा के लिए अक्षय अजर-अमर पद की प्राप्ति !!!

आत्मा का अमर व्याख्याकार

सत्य एवं शिव के एक प्रकाशपिण्ड-सा महावीर हमारी आँखों को चकाचौंध कर देता है। हमारे सोचने-समझने की पद्धति पर उसका ग्रहार निर्मम व्यंग्यो की वर्षा करता है। तत्कालीन पाखण्ड को उसकी वाणी यो अनावृत कर देती है, जैसे सत्य-शोधक प्रवृत्तनाओं को चीर कर अपने अन्तर्मुख के दर्शन करता है।

वास्तव में, विश्व की उस महत्तम विभूति का सन्देश तो प्रतिभा को ऐसी वेगवती लहर है, जो जनता के दिल और दिमाग को भक-भोर कर उसे शिव-मार्ग पर आरूढ़ होने की एक जीवित-जाग्रत प्रेरणा प्रदान करती है। उस महान् जन-नायक का मुख्य कार्य तो अपने अनुभव-मूलक विचारों द्वारा आध्यात्मिक, नैतिक तथा सामाजिक क्रान्ति कर मानव-समाज को विजय के उस पथ पर

ले जाना है, जहाँ मानवता पतनोन्मुख होने की अपेक्षा कान्तिमान हो उठती है। जड़वादियों ने उसे 'नास्तिक' कहा, पर वह 'नास्तिक' संसार को आत्मा की अमर व्याख्या दे गया। वह हर इन्तान से यह आशा करता है कि वह अपने जीवन में अहिंसा का दामन पकड़कर चले। उसकी दृष्टि में वही समाज सदा सुखी रह सकता है, जिसने अहिंसा-मूलक नैतिक गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया है। व्यक्ति की नींव पर समाज का भवन खड़ा है। और यदि व्यक्ति ही पतित है, तो वह किस प्रकार उन्नत-समुन्नत हो सकता है? उस का मत है—“मानव-स्वभाव निम्न व पतित होने की अपेक्षा उच्च एवं दिव्य है। मानवों के सम्पूर्ण पापों को वह उनके स्वभाव की अपेक्षा उनकी बीमारी समझता है। दूसरे शब्दों में, पाप मनुष्य की अज्ञानता से उत्पन्न वे चेष्टाएँ हैं, जिन्हें दूर किया जा सकता है।”

सचमुच महावीर वर्गों से ऊपर उठकर सत्य का सच्चा व्याख्याता है। उसने समाज का ध्यान मानवात्मा के सौन्दर्य की ओर खींचा और उस सौन्दर्य से उसने अहिंसा एवं सत्य का रंग भरकर समाज तथा राष्ट्र को शिवत्व की उपासना में लीन-तल्लीन किया। उसने कहा—“जीवन ही सच्ची शक्ति का स्रोत है। जीवन ही सच्चा धन है, वह जीवन जिसमें अहिंसा, सत्य, आनन्द और सद्भावना की लहरियाँ उठती हैं। वही राष्ट्र सब से अधिक धनवान् है, जिसकी गोद में अधिकाधिक उदार, विचार-

शील, दया-निष्ठ, सेवा-प्रवण और सुखी मानवात्माएँ पलती हैं। वही मानव सब से ऊँचा है, जो अपने जोवन के सम्पूर्ण कर्तव्यों एवं दायित्वों को यथावत् पूरा करता है।”

क्रान्तदर्शी महावीर के जीवन की सुलगती हुई चिनगारी आज भी दानवी हिंसा, सामाजिक विपमता, अन्याय, अत्याचार शोषण, उत्पीडन और अमानवी दुश्चक्रों के नग्न ताण्डव को भस्मसात् करने के लिए हमें सजीव प्रेरणा दे रही है। आवश्यकता है, केवल दृष्टि के धुंधलेपन को साफ करके निर्मल दृष्टि से देखने की। उनका जीवन श्रवण करने या अध्ययन करने की चीज नहीं, प्रत्युत उनके उच्चादर्शों के महाप्रकाश से प्रेरणा, स्फूर्ति एवं चेतना की जलती हुई चिनगारी लेकर जीवन में विराट रूप देने के लिए है।

धर्म-देशना

धर्म-देशना क्यों और किस लिए ?

भगवान् महावीर केवल-ज्ञान की महाज्योति पा चुके थे। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को पाकर वे कृत-कृत्य हो गए थे। उनका अपना जीवन धन चुका था। अब उनके लिए कुछ करना या धनना शेष न था। वे चाहते, तो नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत कर सकते थे—सत्सार से हजारों कोस परे, सर्वथा परे रहकर। परन्तु, उनका जीवन एकान्त निवृत्ति-परक—निर्माल्य नहीं था। ज्योंही उन्होंने कैवल्य की अक्षय तिथि को पाया, तो वे प्रकाश के उस अक्षय भण्डार को बाँटने के लिए अपने एकान्त जीवन को निर्जन वन-गुफाओं में से खींचकर मानव-समाज में ले आए। 'सर्व्वजगज्जीवरकखण्णदयट्ठयाए' के अनुसार विश्वजनीन भावनाओं के लिए अपने-आप को अर्पण कर देना ही उनके

तीर्थङ्कर-जीवन का उच्चादर्श था ।

आत्म-ज्योति को पाने के बाद उन्होने उसे हजार-हजार हाथों से बाँटना प्रारम्भ किया—किसी इच्छा-वश नहीं, किसी जिज्ञासा-वश नहीं, किसी स्वार्थ-वश नहीं, किन्तु, जैन-सत्कृति को मूल भाषा के अनुसार विश्वहितङ्कर-रूप तीर्थङ्करत्व स्वभाव-वश आत्म-प्रदान-अर्थ । जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसका उत्सर्ग करता ही है । उसके पास था अमृत रस, लयालव भरा हुआ, छलकता और बहता हुआ । वह उसी को हर तरफ देता हुआ चला, जन्तु-माण-मन को जगाता और उठाता हुआ चला । उसके पास था आनन्द रस, वह उसी को सब ओर सरसाता हुआ चला, उमगाता हुआ चला । उसके पास था ज्ञान रस, वह उसी को चहुँ ओर छिटकाता हुआ चला, बरसाता हुआ चला । वह सब ही को अपने समान निष्काम और आप्तकाम, बशी तथा स्वतंत्र बनाता हुआ चला । तीस वर्ष तक निरन्तर कर्मशील रह कर वह मानव-जगत् को निष्काम कर्मयोग का सक्रिय पाठ पढ़ाता चला ।

कॉटो में खिलकर भी वह फूल-ऐसा महका कि जिससे दिग्दिगन्त सुरभित हो उठा । जीवन के साक्षात् अनुभवों की अमूल्य धातु प्राप्त कर जो मधुर अनुभूतियाँ उसने जन-मच्च पर प्रस्तुत कीं, उससे भारतीय जीवन का मरुस्थल वासन्ती सुपमा से मुस्करा उठा ! वे जीवन के सच्चे और सफल कलाकार थे । उन्होंने भारत की आत्मा को अन्धकार के गर्त में ठोकर खाते और क्रन्दन

धम-देशना क्यों और किस लिए ? ८१

करते देखा । उसकी पीड़ा का मूल कारण खोज कर उसके घावों पर मरहस लगाने का भी रचनात्मक प्रयत्न किया । वे सामाजिक मंच पर केवल समस्याएँ लेकर ही नहीं आए, समस्याओं का समाधान लेकर भी आए ? वे नाड़ी के परीक्षक, केवल वैद्य ही नहीं थे, कुशल चिकित्सक भी थे । उन्होंने अपने सतत क्रियाशील जीवन से सिद्ध कर दिया कि निःस्वार्थ तथा निष्काम युग-दृष्टा ही समाज का सच्चा पथ-प्रदर्शक हो सकता है ।

हिंसा के प्रति खुला विद्रोह

वह युग यज्ञ-याग का युग था। यज्ञों में होनेवाली वैदिकी हिंसा पर धर्म का रंग चढ़ाया जा रहा था। "यज्ञार्थं पशवः सृष्टा" आदि कपोल-कल्पित सूत्रों के द्वारा पशु-जगत् की सृष्टि यज्ञों की सार्थकता के लिए ही हुई है—यह भ्रान्त धारणा जनता के गले उतारी जा रही थी। यज्ञीय हिंसा को स्वर्ग-प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में मान्यता देकर हिंसा को प्रोत्साहन दिया जा रहा था।

ऐसे हिंसा-प्रधान वातावरण के प्रति अहिंसा के पूर्ण देवता महावीर कैसे मौन रह सकते थे? उन्होंने हिंसा के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और अपने सार्वजनिक प्रवचनों में धर्म के नाम पर होने वाली उस घोर हिंसा के प्रति खुला विद्रोह किया।

उन्होंने अपनी गम्भीर भाषा में कहा—“हिंसा तीन काल में भी धर्म नहीं हो सकती। सत्कार के सब प्राणी,—फिर चाहे वे छोटे हो या बड़े, मनुष्य हो या पशु—जोना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता।^१ सब को सुख प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय। मनुष्य को अपना जीवन प्यारा है।^२ अतः किसीके प्राणों को लूटना, उसके जीवन के साथ खिलवाड़ करना, कथमपि धर्म नहीं हो सकता। प्राण-रक्षा धर्म हो सकता है, प्राण-हरण नहीं। क्योंकि अहिंसा, सत्य और तप यही धर्म है।^३ जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता, और जिस श्यामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सब ही पसन्द करते हैं—जिन-शासन का यही निचोड़ है।^४ यज्ञों में धर्म के नाम पर बलि देना घोर पाप है। यह तो सीधी नरक की राह है।

१—“सन्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिज्जिउ ।”

—दशवैकालिक ६/११

२—“सन्वे जीवा सुहसाया दुक्खपडिक्कला
सन्वेसि जीविय पिय”

—आचारांग २/३/८१

३—“धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।”

—दशवैकालिक १/१

४—ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो ।
त इच्छ परस्स वि मा, एत्तियग्गं जिण्णसासणयं ॥

—बृहत्कल्प०

सत्य

अहिंसा और सत्य—ये जीवन की दो पाँखें हैं। अहिंसा की पाँख न हो, तो अकेले सत्य के पाँख से साधना के क्षेत्र में उड़ान नहीं भरी जा सकती। और सत्य के अभाव में केवल अहिंसा के बल पर भी साधना-मार्ग पर गति-प्रगति नहीं हो सकती। दोनों के मेल से साधना का जीवन गति-शील बनता है। अमत्य के परिहार और सत्य के स्वीकार पर बल देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—“असत्य संसार में सभी सत्-पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है, और वह सभी प्राणियों के अविश्वान का न्याय है, इसलिए असत्य छोड़ देना चाहिए।^१ ननु अप्रमत्त

१—मुनासाओ य लोग्ग्नि, नव्वसाहृहि गरहिओ ।

अविस्तातो य भूयाणं, तन्हा मोस विवज्जए ॥—दशवै ६/१३

तथा सावधान रह कर, असत्य को त्याग कर, हितकारी मत्य ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।^१ यह सत्य ही लोक में सारभूत है, जो महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।^२ जो विद्वान् सत्य-भार्ग पर चलता है, वह ससार-सागर को पार कर जाता है।^३ सत्य में दृढ़ रहने वाला मेधावी साधक सब पापों को नष्ट कर डालता है।^४

सत्य के नाम पर भी भगवान् महावीर ने एक बहुत बड़ी क्रान्ति की थी। दूसरे धर्म और दर्शन ईश्वर को प्रधानता दे रहे थे, सारे सधनुष्ठानों का केन्द्र भगवान् माना जा रहा था। साधना का लक्ष्य एकमात्र भगवान् को प्रसन्न करना था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय, उपासना, व्रत, सदाचार की सब धार्मिक क्रियाएँ उसे रिझाने के लिए ही चल रही थी। व्यक्ति की पूजा को

१—निच्चकालऽप्यत्तेण, मुसावाय-विवज्जण ।
भासियब्बं हियं सच्च, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्कं ॥

—उत्तरा० १६/२६

२—‘सच्च लोगम्मि सारभूय, गभीरतर महासमुदाओ ।’

—प्रश्नव्याकरण

३—‘सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मार तरइ ।’

—आचाराग ३/३/१२

४—‘सच्चम्मि धिइ कुब्बिहा, एत्थोवरए मेहावी सच्च पाव सोसइ ।’

—आचाराग ३/२/५

महत्त्व दिया जा रहा था, और उसे प्रसन्न करने के लिए जीवन में हजारों गलतियों आ गई थीं। भगवान् महावीर ने उस व्यक्ति-पूजा को तोड़ कर सत्य की उपासना का महान् आदर्श जनता के सामने रखा और अपनी जोरदार भाषा में कहा—“सत्य ही भगवान् है।^१ वह भगवान् तो तुम्हारे मन-मन्दिर में ही विराजमान है। अतः उसी की एक निष्ठा से उपासना करो, उसी में रत रहो, उसी में दृढ़ रहो और उसी की प्राप्ति के लिए साधना करो।”

दूसरी बात। तत्कालीन धर्म-नेताओं और सत्य-वक्ताओं ने वाणी के सत्य को ही सत्य समझ लिया था। पहली मन की और अन्तिम आचरण की भूमिका गायब हो गई थी। सत्य, केवल वाणी पर नाच रहा था, मन और शरीर उसके प्रकाश से सूने थे। भगवान् महावीर ने इस भ्रान्त विचारधारा पर भी करारा प्रहार करते हुए कहा—“सत्य का महाप्रवाह तो त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित होता है। उसकी एक धारा मन में, दूसरी वाणी पर और तीसरी धारा शरीर में होकर बहती है। मन, वाणी और कर्म की एकसूत्रता पर चलने वाला सत्य ही वास्तविक सत्य है।^२ मन में सत्य का स्वरूप होना, सत्य सोचना—यह मन का सत्य है। जो अन्तर्मन में है, वही जब बाहर बोला जाता है, तो वह

^१— तं सच्च नु भगव ।

—प्रश्न व्याकरण

^२— नरात्मन्चे वयमन्चे सायसच्चे ।^३

वाणी का सत्य है। मन ने जो सत्य का रूप लिया था, जब वह मनरूपो कुएँ का पानी वाणी के डोल में आएगा, तभी वाणी का सत्य बनेगा। और जब वह मन एव वाणी का सत्य शारीरिक व्यवहार और कर्म के रूप में ढलता है, तो वह काया का सत्य बनता है। जो क्रोध से, हास्य से, लोभ अथवा भय से—किसी भी अशुभ सकल्प से असत्य नहीं बोलता, वही सच्चा ब्राह्मण है।^१ जहाँ ये तीनों शक्तियाँ कदम-से-कदम मिलाकर चलती हैं, वही जीवन सत्यमय, अमृतमय बनता है। जिसका मन भी सत्य का प्रकाश लेकर आत्मा की ओर दौड़ता है, वाणी भी ऋतम्भरा होकर आत्मा की ओर लपकती है और शरीर का प्रत्येक स्पन्दन सत्यमय होकर आत्मा की ओर गति करता है, वही सत्य का पूर्ण साधक है।^२

केवल वाणी के सत्यवाग्वियों को सम्बोधित करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—“यदि तुम्हारे अन्दर क्रोध है, अभिमान है, हास्य, लोभ अथवा भय है, तो असत्य तो असत्य है ही, परन्तु उस स्थिति में बोला गया सत्य भी असत्य ही है, क्योंकि वहाँ अन्तर्जागरण नहीं है। क्रोध अपने-आप में

१—क्रोहा वा जड् वा हासा, लोहा वा जड् वा भया ।

मुस न वयड् जो उ, त वय दूम माहण ॥

—उत्तरा० २५/२४

२—‘मणवयकायमुसदुडे जे स भिक्खू ।’

—दशवै० १०/७

१२४ : सन्मति-महावीर

की निर्मल धवल धाराएँ ! आत्मा में डुवकी लगाओगे, तो पवित्र ही नहीं, पवित्रतम बन जाओगे । आत्म-शुद्धि के लिए एक इंच भी इधर-तिधर जाने की आवश्यकता नहीं है । तू जहाँ है, वहीं आत्मा में डुवकी लगा, जहाँ अहिंसा और ब्रह्मचर्य की अमृत गङ्गा बह रही है । “धर्म ही जलाशय है, ब्रह्मचर्य ही शान्ति-दायक तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्याएँ ही पवित्र घाट है, उसमें स्नान करने से आत्मा विशुद्ध, निर्मल, निर्दोष होकर परम शान्ति का अनुभव करता है ।”^१ “यही सच्चा स्नान है ऋषियों का महास्नान है, जिससे महर्षि लोग परम विशुद्ध होकर सिद्धि-लाभ करते हैं, कर्म-मल को धोकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।”^२

१—धम्मे हरए वमे संतिमित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेस्से ।

जहि सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीद्भूओ पजहामि दोसं ॥

—उत्त० १२/४६

२—एय सिणाण कुसलेहि दिट्ठं, महासियाणं इत्थिणं पसत्थं ।

जहि सिणाया विमला विसुद्धा, महारिती उत्तमं ठाणं पत्ते ॥

—उत्तरा० १२/४७

का हृदय से स्वागत करता है। स्वयं भगवान् महावीर से जय पूछा गया कि धर्म-तत्त्व का निर्णय करने के लिए हम कौन-सा गज लेकर चलें, तो उन्होंने परम सत्य के रहस्य को अनावरण करते हुए तथ्य का उद्घोष किया था—“धर्म तत्त्व का विनिश्चय मनुष्य की प्रज्ञा—शुद्ध बुद्धि ही करती है। बुद्धि-तुला पर परखा हुआ सच्चा धर्म ही जीवन को उज्ज्वल समुज्ज्वल भविष्य की ओर ले जा सकता है।^१

१—“पवा समिक्खए धम्म, तत्तं तत्त-विणिच्छियं ।”

१३४ : सन्मति-महावीर

संघ-योजना और शिष्य-परम्परा द्वारा ही भगवान् महावीर ने अपना दिव्य सन्देश जन-जन तक पहुँचाने का एक सफल तथा लोक-हितैषी प्रयास किया था ।

१३८ : सन्मति-महावीर

हो । जहाँ तक मैं पहुँच सका हूँ, वहाँ तक तुम भी पहुँच सकते हो । वीर बन सकते हो, महावीर बन सकते हो, जिन बन सकते हो । क्योंकि प्रत्येक आत्मा में जिनाङ्कुर छुपा हुआ है ।”

मनुष्यता के लिए इससे बढ़ कर आशा का सन्देश आज तक नहीं मिला ।

सन्मति-सन्देश

२१—जइ वि थ एगिणो किने चरे, जइ वि थ मुजिय मासमन्तसो ।

जे इह मायाइ मिज्जइ, आगता गन्धाय एतसो ॥

—सूत्रकृतांग २/१/६

—भले ही कोई नग्न रहे था महीने-महीने में भोजन करे; परन्तु यदि वह माया-युक्त है, तो उसे बार-बार जन्म लेना पड़ेगा ।

२२—खणभेदासोक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अण्णिगामसोक्खा ।

संसारभोक्खस्स विपक्खभूया, खण्णी अण्णत्थाण उ कामभोगा ॥

—उत्तराध्ययन १४/१३

—काम-भोग क्षण-मात्र सुख देने वाले है, तो चिरकाल तक दुःख देने वाले । उनमें सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख है । मोक्ष-सुख के वे भयंकर शत्रु है, और अनर्थों को खान है ।

२३—तेसि पि न तवो सुद्धो, निक्खता जे महाकुला ।

जं ने वन्ने वियाण्णति, न सिल्लोग पवेज्जए ॥

—सूत्रकृतांग ८/२४

—महान् कुल में उत्पन्न होकर संन्यास ले लेने से तप नहीं हो जाता; असली तप वह है, जिसे दूसरा कोई जानता नहीं तथा जो कीर्ति की इच्छा से नहीं किया जाता ।

२४—जरा जाव न पीडैइ, वाही जाव न वड्ढइ ।

जाविदिया न हायंति, ताव धम्म समायरे ॥

—दशवैकालिक ८/३६

—जब तक बुढापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं वढती, जब तक इन्द्रियाँ हीन—अशक्त नहीं होती; तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए ।

२५—उपलेखो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ ।

भोगी भमइ संसारे, अभोगी विष्णुच्चई ॥

—उत्तराध्ययन २५/२१

—जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है, अभोगी लिप्त नहीं होता । भोगी संसार में भ्रमण किया करता है और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

२६—अधुव जीवियं तच्चा, सिद्धिमग्ग वियाणिया ।

विणिअट्टेज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥

—दशवै ८/३४

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी आयु तो परिमित है, एक मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए ।

